विशेषतया

भाग 2

भारत में स्थानीय प्रशासन का विकास

(Evolution of Local Government in India)

यह स्पष्ट कर देना अनिवार्य है कि इस प्रकार की पुस्तक में भारत में स्थानीय प्रशासन के विकास के इतिहास के साथ न्याय करना कठिन है क्योंकि इस अध्याय का क्षेत्र सीमित है। दूसरा करण यह भी है कि यह एक प्राचीन सम्यता के बहुत लम्बे इतिहास का वर्णन है जिसका प्रारम्भ ईसा से लगभग तीन हज़ार वर्ष पूर्व हुआ। अतः यह इतिहास बहुत लम्बा है। फिर भारत

स्वयं एक उलझन है। इसकी विशालता, इसकी विभिन्नता और इसकी प्राचीनता जैसे कारणों से यहां स्थानीय प्रशासन का कोई एक रूप विकसित नहीं हो सका। अतः प्रत्येक विद्यार्थी जो स्थानीय प्रशासन का अध्ययन करना चाहता है, के सामने यही समस्या उत्पन्न होती है। यहां देश के भिन्न–भिन्न क्षेत्रों में भिन्न–भिन्न समय पर स्थानीय प्रशासन के जो मोटे स्वरूप देखे गये, उन्हीं का उल्लेख करने का प्रयास किया गया है।

प्राचीन भारत (Ancient India)

भारत के इतिहास का प्राचीनतम युग सिंधु घाटी सभ्यता का था जो अनिवार्य रूप से एक नगरीय सभ्यता थी। पंजाब, हरियाणा और राजस्थान में मोहनजोदड़ो, हड़प्पा तथा अन्य स्थानों पर खुदाई का जो कार्य हुआ है उससे पता चलता है कि वे नगर संसार के प्राचीनतम नियोजित नगरों में से थे। "चौड़ी–चौड़ी सड़कें, व्यापार केन्द्र, सार्वजनिक कार्यालय, सामुदायिक स्नान गृह और नालियां तथा मल निकास आदि बनाये गये थे। इससे पता चलता है कि वहां सतर्क और प्रभावी नगरीय प्रशासन था। यह गौरव सिंधु घाटी सभ्यता के लोगों को जाता है कि उन्होंने संसार को प्राचीनतम नगर दिये, प्रथम नगरीय सभ्यता दी, पहले नियोजित नगर दिये, प्रथम मल निकास व्यवस्था दी, और नगर के स्थानीय प्रशासन का प्राचीनतम उदाहरण पेश किया।"[20]

दूसरी ओर आर्य लोग अधिकतर ग्राम निवासी थे यही कारण है कि भारत में प्राचीन काल से ही ग्राम ही प्रशासन का केन्द्र–बिन्दु रहा है। स्वाभाविक है कि उस युग में जब संचार के साधन बहुत धीमे थे और औद्योगीकरण का कहीं नाम नहीं था, ग्राम का बहुत बड़ा महत्त्व होता था। प्राचीन भारत के जीवन में नगर की भूमिका अपेक्षाकृत कम होती थी। "वेद मंत्रों में ग्रामों की खुशहाली के लिये बार–बार प्रार्थना की गई है, परन्तु नगरों तथा उपनगरों के लिये नहीं।"[21] नगरों का विकास काफ़ी समय बाद हुआ। नगरों का उल्लेख हमें रामायण, महाभारत के युग तथा उसके उपरांत मिलता है।

प्रायः ग्राम का प्रशासन ग्राम के मुखिया की देखरेख और निर्देशन में चलाया जाता था। वैदिक साहित्य में उसे ग्रामिनी (Gramini) कहा जाता था, परन्तु देश के विभिन्न भागों में उसे भिन्न–भिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता था। उदाहरणतया उत्तरी भारत में उसे ग्रामीका (Gramika) अथवा ग्राम्याका (Grameyaka) कहा जाता था, पूर्वी दक्षिण में मुनण्डा (Mununda), महाराष्ट्र में ग्रामयुक्ता (Gramyukta) या पट्टाकिला (Pattakila), कर्नाटक में गवुण्डा (Gavunda), और उत्तर प्रदेश में महातका (Mahattaka) या महान्तका (Mahantaka) कहा जाता था।

ग्राम के मुखिया का पद प्रायः वंशानुगत होता था, परन्तु यदि पुत्र का उत्तराधिकार स्वीकार न किया गया हो तो सरकार को यह अधिकार प्राप्त था कि वह उस परिवार से सम्बन्धित किसी अन्य व्यक्ति को भी नियुक्त कर सकती थी। प्रायः वह ब्राह्मण नहीं होता था और ग्राम की अर्द्धसेना का प्रधान होता था। वह ग्राम प्रशासन का सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकारी होता था। ग्रामों को दी जाने वाली सहायता का निर्णय करते समय राजा कभी–कभी उनसे परामर्श लेते थे। ग्राम की रक्षा उसका सबसे बड़ा कर्त्तव्य होता था। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहां मुखिया तथा ग्राम के अर्द्धसैनिक रक्षकों ने ग्राम की रक्षा के लिये अपने प्राणों का बलिदान दे दिया। सरकार के राजस्व को वसूल करना उसका अन्य महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य होता था। इस कर्त्तव्य के पालन में वह ग्राम परिषद से परामर्श करता था। वह इस परिषद का मुखिया होता था। यद्यपि वह केन्द्रीय सरकार के प्रति उत्तरदायी था परन्तु वह जनता का प्रतिनिधि होता था और उनके हितों की रक्षा भी करता था। जितना वह जनता के लिये अपरिहार्य था उतना ही वह सरकार के लिये अनिवार्य था।[22]

ग्राम लेखाधिकारी वहां का एक अन्य पदाधिकारी था। वह ग्राम में भूमि अधिकारों और भूमि के लेन–देन को दर्ज करता था, सरकारी लगान सम्बन्धी लेखपत्र भी उसीके पास होते थे, जिला या केन्द्रीय प्रशासन के साथ पत्र व्यवहार भी वही करता था, और ग्राम परिषद के निर्णयों तथा प्रस्तावों को भी वही लिखता था।[23]

ग्राम का एक प्राथमिक मंडल (assembly) भी होता था। सभी सम्मानित व्यक्ति इसका सदस्य बन सकते थे। कर्नाटक में ग्राम में बड़े लोगों (Mahajanas) की संख्या बहुत होती थी जो कभी–कभी 500 या 1002[24] तक भी पहुंच जाती थी। तमिल देश में लोगों को ग्राम मंडल की सभा में नगारा पीट कर बुलाया जाता था। ग्राम के सभी सम्मानित व्यक्तियों का यह प्राकृतिक अधिकार था कि वे प्राथमिक ग्राम परिषद के सदस्य बन सकते थे। देश के विभिन्न भागों में इनके नाम भिन्न–भिन्न होते थे जैसे उत्तर प्रदेश में महात्मा (Mahatamas), महाराष्ट्र में माहातरा (Mahattaras), कर्नाटक में महाजन (Mahajanas) और तमिल देश में इन्हें पीरुमक्काल (Perumakkal) कहा जाता था।[25]

ग्राम के मुखिया और लेखाधिकारी ग्राम समुदाय पर अपनी स्वेच्छा से शासन नहीं कर सकते थे। प्रशासन चलाते समय ग्राम जनमत उनका मार्गदर्शन करता था, ग्राम के बड़े लोग इस जनमत को व्यक्त करते थे जो एक प्रकार की अनौपचारिक परिषद होती थी। वैदिक युग में यह ग्राम परिषद एक परिषद और एक सामाजिक क्लब दोनों प्रकार के कार्य करती थी। इसकी बैठकों में "सदस्य सामाजिक विषयों पर विचार करते थे, भीतरी (Indoor) खेल (games) खेलते थे, और ग्राम सरकार का कार्य भी चलाते थे।"[26] मौर्यकाल में ग्राम सार्वजनिक उपयोगिता तथा मनोरंजन के कार्य भी संयोजित करते थे, ग्राम के सदस्यों के आपसी झगड़ों को सुलझाते थे और अव्यस्यकों की सम्पत्ति के न्यासधारी (Trustees) का कार्य भी करते थे, परन्तु वे अभी औपचारिक परिषदों में विकसित नहीं हुए थे।[27] इनका परिषदों के रूप में विकास तदुपरान्त गुप्त काल में हुआ जब इन परिषदों को केन्द्रीय भारत में पंचमंडली (Panchmandalis) और बिहार में ग्राम जनपद (Gramajanapadas) कहा जाता था।

तमिल देश में चोला (Chola) काल में ग्राम की प्राथमिक सभा को साधारण ग्रामों में उर (ur) और अग्रहार (agrahara) ग्रामों में सभा कहा जाता था। यह सभा कई उपसमितियों द्वारा कार्य करती थी। परन्तु यह समितियां उत्तर भारत और कर्नाटक में नहीं होती थी। इन सभाओं या ग्राम समुदायों की शक्तियां किसी केन्द्रीय सरकार के चार्टर या प्रतिनिधान द्वारा नहीं अपितु चिरकालीन परम्पराओं से प्राप्त होती थी। वे अज्ञात प्राचीनता से चली आती थी। केन्द्रीय सरकार का नियंत्रण और निरीक्षण सामान्य ही होता था। ग्राम परिषदों को पहल शक्ति दी जाती थी और उनकी शक्तियां भी पर्याप्त होती थीं।

इन ग्राम परिषदों तथा सभाओं की शक्तियों का वर्णन डा० आलतीकार (Dr. Altekar) इस प्रकार करते हैं; "वे समुदाय की रक्षा का प्रभावी प्रबंध करती थीं, केन्द्रीय सरकार के करों को वसूल करती थीं, अपने कर लगाती थीं, ग्राम में झगड़ों का निपटारा करती थीं, मनोरंजन तथा लोक उपयोगिता के कार्यों का प्रबन्ध करती थीं, न्यासधारी तथा बैंक का कार्य भी करती थीं, अकाल के प्रकोप को कम करने के लिये सार्वजनिक कर्ज उठाती थीं, स्कूलों, महाविद्यालयों तथा निर्धन निवासों का प्रबन्ध करती थीं और उनके लिये धन भी जुटाती थीं और मन्दिरों की विभिन्न प्रकार की धार्मिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियों का निरीक्षण भी करती थीं। इसमें कोई संदेह नहीं कि जिन शक्तियों का प्रयोग ये करती थीं वे शक्तियां आज कई देशों के स्थानीय प्रशासनों को प्राप्त नहीं हैं . . . . , वे ग्रामीणों के हितों की रक्षा करने और उनके भौतिक, नैतिक तथा बौधिक विकास के लिये महत्त्वपूर्ण तथा सराहनीय कार्य करती थीं।"[28]

परन्तु यह कहना पड़ेगा कि प्राचीन भारत में ग्राम सभायें इसलिये सफलता से कार्य करती थी क्योंकि लोग सत्यता तथा चरित्र में दृढ़ विश्वास रखते थे और योग्यता, आयु तथा अनुभव को आदर की दृष्टि से देखते थे। ग्राम परिषदों के सदस्य निर्वाचित नहीं होते थे। उनको यह स्थान लोगों की सर्वसम्मति से प्राप्त होता था। आजकल का लोकतंत्र जिसमें दलीय राजनीति तथा मतदान होता है, उस युग में नहीं था।

पूर्वी भारत में ग्रामीण स्वशासन का कुछ निश्चित ज्ञान नहीं है। परन्तु यह कल्पना की जाती है कि इस क्षेत्र पर उत्तरी भारत का प्रभाव अवश्य रहा होगा। क्योंकि इन दोनों का परस्पर सम्पर्क था। परन्तु इस प्रभाव के संदर्भ में दो बातों का ध्यान रखना अनिवार्य है :

"(1) यह एक सीमावर्ती क्षेत्र था जिसमें आकर बसने वाली विभिन्न प्रजातियों का परस्पर मेल जोल हुआ, अतः ग्राम शासन का एक ऐसा संगठन जो सुदृढ़ जाति व्यवहार पर आधारित हो, गंगा डेल्टा (delta) के दक्षिणी क्षेत्र में अपनी जड़े नहीं जमा सकता था।

(2) वहां जल की अपेक्षाकृत बहुतायत होने, मानव बस्तियों का अस्थायी तथा बिखरे हुये होना और ग्राम के घरों पर वार्षिक बाढ़ (floods) का अलगावी प्रभाव होने के कारण पूर्वी भारत में उत्तरी भारत जैसे सुव्यवस्थित संगठित ग्राम प्रशासन की सम्भावना नही थी।"[29]

जहां तक प्राचीन भारत में नगरीय प्रशासन का सम्बन्ध है, यह ऊपर कहा जा चुका है कि वैदिक सभ्यता मुख्य तौर पर ग्रामीण सभ्यता थी। नगरों तथा उपनगरों का विकास बाद में हुआ। महाभारत में कई नगरों का उल्लेख मिलता है। नन्द, मौर्य तथा गुप्त कालों में नगरीय स्थानीय प्रशासन भली प्रकार विकसित हो चुके थे। सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब में कई नगर थे। उनमें से अधिकतर स्वायत्तता प्राप्त थे जिनका शासन उनकी अपनी परिषदें चलाती थीं। इस काल में नगर के सर्वोच्च अधिकारी को सर्वथाचिन्तक (Sarvarthachintaka) कहा जाता था।[30]

गुप्त काल में इस अधिकारी को प्रायः पुरपाल (purapala) कहा जाता था। कभी–कभी वह ज़िला अधिकारी भी होता था और अधिकतर पुरपाल सेनाध्यक्ष भी होते थे। कभी–कभी इन पुरपालों की नियुक्ति विद्वानों में से की जाती थी। पुरपाल अथवा राज्यपाल के परामर्श के लिये एक गैर–सरकारी समिति होती थी जिसको देश के विभिन्न भागों में भिन्न–भिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता था जैसे गोष्ठी (Goshthi), पंचकुल (Panchkula) या चौकाडिक (Chaukadika)। इस समिति में सभी वर्गों तथा सभी हितों को प्रतिनिधित्व दिया जाता था। कभी–कभी नगर को वार्डों में विभाजित किया जाता था और ये वार्ड समिति में अपने प्रतिनिधि भेजते थे। इस समिति का एक कार्यकारी होता था ताकि इसके कार्य का शीघ्र तथा सुविधापूर्ण निपटारा किया जा सके। राजपूताना तथा केन्द्रीय भारत में इस अधिकारी को 'वर' (Vara) कहा जाता था। इस अधिकारी का यह कर्त्तव्य होता था कि वह सारे कार्यकारी कार्य को पूरा करे जैसे कर की वसूली, लोक धन को एकत्रित करना तथा उसका निवेश, न्यास सम्पत्ति का प्रबन्ध आदि। इनकी सहायता के लिये स्थायी कार्यालय तथा कर्मचारी होते थे। एक स्थायी सचिव (karnaika) पर समिति के पत्र–व्यवहार तथा रिकार्डस (records) का दायित्व था। एक अधिकारी जिसको 'क़ौपतिक' (kauptika) कहा जाता था, व्यापार केन्द्रों से धन वसूल करता था जो सम्भवतः स्थानीय राजस्व का बड़ा भाग था। महाराष्ट्र में नासिक नगर की अपनी परिषद होती थी। कर्नाटक में राष्ट्रकुत (Rashtrakuta) तथा चालुक्य (Chalukya) कालों में ऐहोला (Aihola) नगर की अपनी नगर निगम होती थी।[31]

ईसा से पूर्व चौथी तथा तीसरी शताब्दियों में पाटलीपुत्र नगर में एक सुसंगठित तथा कुशल नगरीय प्रशासन था। इस में 30 सदस्यों वाली एक सभा थी जिसकी पांच उप–समितियां थी

जो पांच भिन्न–भिन्न विषयों का प्रबन्ध करती थी जैसे (क) विदेशी; (ख) जन्म तथा मृत्यु का लिखना तथा आंकड़े एकत्रित करना; (ग) वस्तुओं का निर्माण; तथा (घ) उचित वेतन निर्धारित करना, व्यापर केन्द्रों का निरीक्षण, शुद्ध तथा बिना मिलावट वाली वस्तुओं की आपूर्ति और व्यापारियों से विभिन्न करों तथा प्रभारों को वसूल करना।[32]

तक्षला (Taxila), त्रिपुरी (Tripuri) तथा उज्जैनी (Ujjayiani) जैसे नगरों को अपनी–अपनी मुद्रा चलाने का भी अधिकार था।[33]

मध्य युग का भारत (Mediaeval India)

सारे मुस्लिम काल— मुगलों से पूर्व तथा मुगलों के काल दोनों में लोकतांत्रिक तथा स्वशासित स्थानीय प्रशासन के संस्थानों का ह्रास हुआ। इसका कारण सम्भवतः यह था कि भारत में चिर काल तक अस्थायित्व तथा विदेशी आक्रमण होते रहे, जिनका प्रभाव स्थानीय शासन पर पड़ा। जैसा कि उस समय अन्य देशों में भी था, भारत में मुसलमान प्रशासन सामंती तथा गैर–लोकतांत्रिक था। सरकार के कार्य काफी कम हो गये थे। दिल्ली की सल्तनत तानाशाह थी और नौकरशाही का बड़ा अधिक केन्द्रीकरण था। "नगर का असैनिक प्रसाशन 'मुहतासिब' (Muhtasib) के हाथ में होता था। उसके कार्य विभिन्न प्रकार के होते थे जैसे सार्वजनिक सुविधाओं की देखभाल—जल आपूर्ति तथा कुँओं की देखभाल, मुसाफिरों के लिए सुविधाओं का प्रबन्ध, सार्वजनिक भवनों की देखरेख, जो भवन या मकान गिरने वाले थे उनको गिराना, व्यापार केन्द्रों का निरीक्षण, नाप तोल की जाँच करना और खाद्य पदार्थों में मिलावट को रोकना आदि। यह कार्य आजकल नगरीय प्रशासन के कार्य समझे जाते हैं।"[34]

शेरशाह सूरी और तदोपरान्त मुगलों, विशेषतया अकबर, ने सामान्य प्रशासन विशेषतया राजस्व प्रशासन में बहुत परिवर्तन किये। कमाल सिद्दीकी (Kamal Siddiqui) का कहना है कि इसका पंचायत पर आधारित ग्राम स्वप्रशासन पर तीन प्रकार का प्रभाव पड़ा:[35]

(1) कुछ क्षेत्रों में पुलिस कार्य केन्द्रीय सरकार ने अपने हाथ में ले लिये जिससे पंचायतों का शांति और व्यवस्था बनाये रखने का कार्य सीमित हो गया।

(2) बहुत ग्रामों में ग्राम मुखिया के महत्त्व के बढ़ जाने से पंचायतों की सत्ता कम हो गई क्योंकि केन्द्रीय या प्रांतीय सरकार ने कर वसूल करने तथा शांति और व्यवस्था बनाये रखने का दायित्व मुखिया को सौंप दिया। परन्तु कुछ ग्रामों की पंचायतें बड़ी शक्तिशाली सिद्ध हुईं, उन पर मुखिया की बढ़ी हुई शक्ति का प्रभाव नहीं पड़ा।

(3) मुगलों ने जो कर व्यवस्था लागू की उसके कारण राजस्व किसानों अथवा ज़मींदारों तथा अन्य मध्यवर्गीय नागरिकों का एक नया वर्ग उत्पन्न हो गया जो करदाता और प्रशासन के बीच विचौलिया बन कर उभरा। 18वीं शताब्दी में मुगल शक्ति के कम होने के साथ–साथ इन ज़मींदारों का ग्रामों पर नियंत्रण बढ़ता गया।

मुगलों से पूर्व के भारत में नगरों के प्रशासन का कोई अधिक ज्ञान नहीं। सभी मुसलमान शासक विशेषतया मुगल, नगरों में रहने वाले लोग थे। मुगलों ने स्थानीय प्रशासन की एक विस्तृत व्यवस्था विकसित की थी। प्रायः प्रत्येक नगर वार्डों में विभाजित किया जाता था, और प्रत्येक वार्ड में एक विशेष समुदाय रहता था। प्रत्येक वार्ड या मुहल्ला में एक 'मीर मुहल्ला' होता था जो वहाँ के निवासियों का प्रतिनिधि होता था। नगर प्रशासन के उच्चतम अधिकारी को 'कोतवाल' कहा जाता था जो ना केवल पुलिस, वित्तीय तथा कार्यकारी विषयों में सर्वोच्च अधिकारी था परन्तु कई नगरीय कार्य भी करता था। अबुल फज़ल (Abul Fazal) अपनी पुस्तक आईने अकबरी (Aaine Akbari) में कोतावाल के कार्यों का उल्लेख करते हैं। वह नगर का

राज्यपाल (governor) था जिसके हाथ में नगर पुलिस के अध्यक्ष की शक्तियों और कर्तव्यों के साथ नगरीय प्रशासन के मजिस्ट्रेट (magistrate) तथा प्रीफेक्ट (Prefect) के अधिकार भी थे।

चूँकि समाज की रचना सामंती थी, इसलिये राज्य की विशाल शक्तियाँ तथा विभिन्न कार्य एक ही व्यक्ति या संस्थान में निहित होते थे। मुगल प्रशासन का ढाँचा इस प्रकार का था कि वहाँ स्थानीय प्रशासन के क्षेत्र में किसी लोकतांत्रिक प्रशासन की सम्भावना नहीं थी। "नगर के लोगों को वहाँ के मामलों का प्रबन्ध करने में सम्मिलित नहीं किया जाता था और नगर का प्रशासन केन्द्रीय सरकार पर ही आश्रित था और सीधा उसी के द्वारा सख्ती से नियन्त्रित था। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मध्ययुगी तथा मुगल भारत में ऐसे कोई नगरीय संस्थान नहीं थे जिनको स्वशासन की शक्तियाँ प्राप्त हों और प्राचीन भारत के नगरीय प्रशासन में स्वशासन की परम्परा मुगल साम्राज्य तथा दिल्ली सल्तनत (Sultanate) की सैनिक तानाशाही के अधीन पूर्णतया लुप्त हो गई थी।"[37]

अंग्रेजी युग (British Period)

अंग्रेज भारत में व्यापारी बनकर आये थे, धीरे–धीरे वे देश में सब से बड़ी शक्ति बन गये। उनक मुख्य उद्देश्य भूमि राजस्व को अधिक से अधिक बढ़ाना तथा शांति व्यवस्था को बनाये रखना था। अपने पहले उद्देश्य को पूरा करने के लिए उन्होंने भूमि सुधार—ज़मींदारी व्यवस्था, रैयतवारी व्यवस्था तथा महलवारी व्यवस्था, को लागू किया। और अपने दूसरे उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने प्रशासन की इकाइयों के रूप में प्रांत, जिले, उपजिले, तहसीलें या तालुक स्थापित किये। इन दोनों ही बातों का स्थानीय प्रशासन के संस्थानों पर प्रभाव पड़ा। "........ नई राजस्व व्यवस्था ने अपनी क्रूर कुशलता द्वारा ग्रामों में भारतीय स्वशासन के संस्थानों का स्थान ले लिया .... कुछ सीमा तक मुगल प्रशासन का भी यही प्रभाव हुआ था, परन्तु अंग्रेजी शासन कहीं अधिक संगठित और दृढ़ संकल्पी था, इसलिये इसका ग्रामीण स्वशासन पर विनाशकारी प्रभाव लगभग पूर्ण था।"[38] 1872 की बंगाल सरकार की रिपोर्ट में इस तथ्य को स्वीकार किया गया था। इसमें यह कहा गया था कि अंग्रेज़ी शासन से पूर्व ही बंगाल में ग्रामीण स्वशासन के संस्थान बहुत कमज़ोर हो गये थे, परन्तु अंग्रेजी शासन के पहले 100 वर्षों में तो वे पूर्णतया समाप्त ही हो गये क्योंकि पुरानी व्यवस्था का स्थान अधिक से अधिक ज़मींदारों के एजेन्ट लेते गये और ज़मीन मालिक ने स्थानीय स्वशासन का स्थान प्राप्त कर लिया।[39]

परन्तु अंग्रेजी शासन की अपनी विवशतायें थीं। अतः उन्होंने अपने ही ढंग का स्थानीय प्रशासन लागू करना आरम्भ कर दिया। इसका प्रारम्भ पहले नगरों में और तदपश्चात ग्रामों में किया गया। अतः वर्तमान स्थानीय प्रशासन का प्रार्दुभाव अंग्रेज़ी काल में ही हुआ। स्थानीय प्रशासन के विकास के इतिहास को विद्वान प्रायः चार चरणों में बाँटते हैं :

प्रथम चरण (First Phase)

प्रथम चरण में अमुक मुख्य घटनायें घटीं : 1687 में अंग्रेज़ी सम्राट जेम्स II (James II) ने एक राजपत्र द्वारा मद्रास में नगर निगम की स्थापना की। 1720 में एक अन्य राजपत्र द्वारा तीनों प्रेज़ीडेंसी (Presidency) नगरों—मद्रास, बम्बई और कलकत्ता में एक–एक नगरपार्षद न्यायालय (Mayor's Court) की स्थापना की गई। 1793 में गवर्नर जनरल तथा परिषद (Governor-General-in-Council) को तीनों प्रेज़ीडेंसी नगरों में ब्रिटिश नागरिकों तथा राजपत्रित असैनिक अधिकारियों में से शांति न्यायधीश (justices of peace) नियुक्त करने का अधिकार दे दिया गया, जिन्हें यह अधिकार दिया गया कि नगरों की सफाई के लिए वे घरों तथा भूमि पर कर लगा सकते हैं। 1842 में बंगाल ऐक्ट पास किया गया ताकि सफाई के लिये नगर समितियों की

स्थापना की जा सके। 1850 में इस बंगाल ऐक्ट को सारे देश पर लागू कर दिया गया। 1863 में प्रान्तीय सरकारों को अधिकार दे दिया गया कि वे सफाई, सड़कों पर रोशनी तथा जल आपूर्ति के लिए नगर समितियों की स्थापना कर सकें। 1870 में लार्ड मेयो (Lord Mayo) का प्रस्ताव प्रकाशित हुआ जिसमें सत्ता का केन्द्र से प्रान्तों को विकेन्द्रीकरण किया गया था। इस बात पर बल दिया गया था कि प्रशासन में भारतीयों को अधिक से अधिक भाग दिया जाये और इस उद्देश्य की पूर्ति नगरों में स्वशासन स्थापित करके की जा सकती है। नगरीय शासन में चुनाव के सिद्धांत को प्रोत्साहित करने की बात कही गई थी। इस प्रस्ताव के अनुकरण में म्यूनिसिपल ऐक्टस (Municipal Act) पास किये गये जिनसे नगरों की शक्तियों में वृद्धि हुई, चुनाव व्यवस्था का विस्तार हुआ और स्थानीय वित्त व्यवस्था का सूत्रपात किया गया।

इस चरण की मुख्य विशेषतायें यह थीं :

(1) स्थानीय स्वशासन के संस्थान केवल नगरों तक सीमित थे। ग्रामों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

(2) इन संस्थानों पर नामांकन (nomination) द्वारा अंग्रेज़ों का दबाव था। इनमें साधारण लोगों की कोई भागेदारी नहीं थी।

(3) इन संस्थानों के पीछे मुख्य उद्देश्य साम्राज्यवादी वित्त व्यवस्था को सहायता देना तथा कर लगाना और करों की आसानी से वसूली करना था।

(4) चौकीदारी ऐक्ट पास किया गया जिसका मुख्य उद्देश्य शांति और व्यवस्था की स्थिति को सुधारना था ताकि ग्रामों से अधिक से अधिक करों की वसूली की जा सके।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है इससे स्पष्ट है कि स्थानीय शासन के जो संस्थान स्थापित किये गये उनका "मुख्य उद्देश्य देश में स्वशासन संस्थाओं को प्रोत्साहन ना देकर अंग्रेजी हितों की रक्षा करना था।"[40]

दूसरा चरण (Second Phase)

भारत में स्थानीय सरकारों के विकास का दूसरा चरण लार्ड रिपन (Lord Ripon) के प्रशासन से आरम्भ होता है जिसको भारत में "स्थानीय स्वशासन का पिता" कहा जाता है। अभी तक स्थायी प्रशासन लगभग पूरी तरह गैर-भारतीय था। अतः भारतीय लोगों की दृष्टि में स्थानीय प्रशासन न तो स्थानीय था और न ही स्वशासन।

लार्ड रिपन (Lord Ripon) के सुधार भारत में स्थानीय सरकार के इतिहास में सीमा चिन्ह (land mark) कहे जा सकते हैं, क्योंकि प्रथम बार उन्होंने इस प्रशासन को लोक–निर्वाचन के आधार पर खड़ा करने का प्रयास किया। 1882 में लार्ड रिपन (Lord Ripon) ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसकी मुख्य विशेषतायें यह थी :

(1) स्थानीय प्रशासन के सदस्य तथा अध्यक्ष गैर–सरकारी तथा निर्वाचित होंगे।

(2) स्थानीय प्रशासन इकाइयों पर राज्य का नियन्त्रण प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष होगा (अर्थात् भीतर की अपेक्षा बाहर से हो)।

(3) अपने कार्यों को करने के लिये स्थानीय प्रशासन इकाइयों को आय के कुछ स्थानीय साधन तथा प्रान्तीय सरकार द्वारा अनुदान देने की व्यवस्था होनी चाहिये।

(4) स्थानीय प्रशासन के अधीन कार्य करने वाले अधिकारियों तथा उनको दिये गये राज्य कर्मचारियों पर स्थानीय प्रशासन का नियंत्रण होगा।

(5) अपने-अपने क्षेत्रों की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये प्रान्तीय सरकारें उचित विधेयक पारित करेंगी।

इसके उपरान्त कई प्रान्तों ने विधेयक पारित कर नगरों तथा ग्रामों में स्थानीय प्रशासन स्थापित किये। 1888 में बम्बई म्यूनिसपल ऐक्ट (Bombay Municipal Act) पास किया गया। मद्रास में स्थापित व्यवस्था को अधिक उन्नत माना गया। बड़े ग्रामों या ग्रामों के समूहों को यूनियनों (Unions) में संगठित किया गया और इन यूनियनों को फिर सब–डिविज़न (Sub-division) या तालुका (Talukas) में ज़िला बोर्ड के नियन्त्रण अधीन गठित किया गया।[41] बंगाल में ज़िला बोर्ड की स्थापना अनिवार्य कर दी गई।

लार्ड रिपन (Lord Ripon) के प्रस्ताव के उपरान्त 1907 में विकेन्द्रीकरण पर राजकीय आयोग की स्थापना एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसका उद्देश्य केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकारों तथा उनके अधीन निकायों के परस्पर प्रशासनिक तथा वित्तीय सम्बन्धों की छानबीन करना था। इस आयोग ने स्थानीय प्रशासन की असफलता के अमुक कारण बताये :

(1) अधिक सरकारी नियन्त्रण;

(2) स्थानीय सरकारों के अपर्याप्त साधन;

(3) शिक्षा तथा प्रशिक्षण का अभाव;

(4) सीमित मताधिकार

(5) योग्य तथा वचनबद्ध व्यक्तियों की तंगी;

(6) स्थानीय सरकारों का लोकाधिकारियों पर अपर्याप्त नियंत्रण। स्थानीय प्रशासनों को सत्ता का विकेन्द्रीकरण करने और लोकतांत्रिक बनाने के लिये आयोग ने कई सुझाव दिये। 1911 में पंजाब ने इन सुझावों के आधार पर म्यूनिसपल ऐक्ट (Municipal Act) पास किया। तदुपरान्त अन्य प्रान्तों ने भी उसी प्रकार के कानून पास किये।

परन्तु नौकरशाही, विशेषकर ज़िला स्तर की नौकरशाही, जिसकी कानून व्यवस्था तथा भूमि राजस्व पर पकड़ थी, बहुत अधिक शक्तिशाली थी, जिसकी जड़ें भी बड़ी गहरी थीं; रिपन की आशाओं पर पानी फेरने में सफल हुई। कई स्थानों पर कलेक्टर (Collector) ज़िला बोर्ड का अध्यक्ष था, ... और इन परिस्थितियों में यह बोर्ड सरकारी विभाग मात्र बनकर रह गये"[42] चूँकि प्रान्तों को यह शक्ति दी गई थी कि वे अपने स्थानीय परिस्थितियों को देखते हुये इन सुधारों को लागू कर सकते हैं, उन्होंने इन सुधारों को और सीमित कर दिया। लार्ड रिपन के उत्तरधिकारियों में इन सुधारों को लागू करने के लिये उत्साह का न होना, स्थानीय शासन और चुनावी व्यवस्था के प्रति लोगों की उदासीनता, ज़मींदारों तथा अन्य निहित हितों के द्वारा विरोध आदि अन्य कारण थे जिन्होंने इन सुधारों को असफल बनाने में योगदान दिया। 1906 में गोखले ने कहा था "लार्ड रिपन के काल से लगभग एक शताब्दी के चौथाई वर्षों के उपरान्त भी सारे देश में स्थानीय प्रशासन कोई प्रगति न कर पाया, अपितु कई क्षेत्रों में उसे धक्का लगा।"[43]

सबसे महत्त्वपूर्ण धक्का था नगरीय सरकारों के चुनावों में साम्प्रदायिक (Communal) चुनाव प्रणाली को लागू करना। ऐसा इसलिये किया गया क्योंकि 1909 के इंडियन कौंसिलज़ ऐक्ट (Indian Counicls Act) जिन्हें मार्ले–मिन्टो सुधारों (Morley-Minto Reforms) का नाम भी दिया जाता है,, के द्वारा प्रान्तों के विधान मंडलों (Legislative Councils) में मुसलमानों के लिये साम्प्रदायिक मतदान लागू किया गया था। यह मुस्लिम लीग की माँग पर किया गया ताकि स्थानीय स्तर पर मुसलमानों को प्रतिनिधित्व दिया जा सके। साम्प्रदायिक मतदान प्रणाली नगरीय सरकारों के विकास में बहुत बड़ी रुकावट सिद्ध हुई। ऐसा बाद में मोंटेग्यू–चैम्सफोर्ड रिपोर्ट (Montgue—Chelmsford Report) तथा साईमन आयोग (Simon Commission) ने स्वीकार भी किया।

तीसरा चरण (Third Phase)

इस चरण में हम 1914 में प्रथम विशव युद्ध आरम्भ हो जाने के उपरान्त स्थानीय प्रशासन के क्षेत्र में जो घटनायें घटीं, उनको ले सकते हैं। इस समय तक राष्ट्रीय आंदोलन काफी ज़ोर पकड़ चुका था। भारत के लोग स्वराज की माँग कर रहे थे। राष्ट्रीय आंदोलन के दबाव तथा चल रहे युद्ध प्रयास में भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने के लिये अंग्रेज़ सरकार ने 20 अगस्त 1917 को एक ऐतिहासिक घोषणा की जिसका उद्देश्य यह था कि भारत में अंग्रेज़ सरकार का अन्ततः उद्देश्य एक उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना है। 1918 में देश में संवैधानिक सुधार करने के लिये मोंटेग्यू–चैम्सफोर्ड रिर्पोट (Montague-Chelmsford Report) प्रकाशित हुई। इसमें सिफारिश की गई थी कि, "जहाँ तक सम्भव हो सके, स्थानीय सरकारों पर जनता का सम्पूर्ण नियंत्रण होना चाहिये और बाहरी नियंत्रण से उन्हें जितनी अधिक सम्भव हो सके, स्वतंत्रता होनी चाहिये।"[44]

परिणामस्वरूप केन्द्रीय सरकार ने मई 16, 1918 को अपने एक प्रस्ताव द्वारा प्रान्तों को यह सिफारिश की—कि नागरीय बोर्डों में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत होना चाहिये, मताधिकार के लिये निश्चित योग्यता में कमी की जानी चाहिये, बोर्ड का अध्यक्ष गैर–सरकारी व्यक्ति होना चाहिये, बोर्डों को अपनी वैधानिक सीमा में रहकर स्थानीय कर लगाने का अधिकार भी होना चाहिये, आदि, आदि। बोर्डों में वरिष्ठ अधिकारियों की नियुक्ति के लिये सरकार की स्वीकृति लेनी होगी। बाहरी नियंत्रण को बहुत हद तक कम कर दिया जायेगा।

परन्तु अधिकतर प्रान्तों में स्थानीय बोर्डों को सुधारने और पंचायतों को स्थापित करने की दिशा में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। इसके दो कारण थे–एक तो युद्ध के कारण प्रशासन की गति धीमी हो गई थी, और दूसरा, नौकरशाही का स्वभाव से रूढ़ीवादी होना।

1919 में गवर्नमेन्ट आफ इंडिया ऐक्ट (Government of India Act) द्वारा प्रान्तों में द्वैत शासन (dyarchy) लागू कर दिया गया था। अतः स्थानीय प्रशासन निर्वाचित मंत्रियों को सौंप दिया गया। जनता द्वारा निर्वाचित और प्रांतीय विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों ने स्थानीय प्रशासन विभाग की ज़िम्मेदारी सम्भाल ली। इस ऐक्ट (Act) में करों की एक अनुसूची दी गई थी जो कर केवल स्थानीय प्रशासन ही लगा सकते थे अथवा उनके लिये ही लगाये जा सकते थे। इसने न केवल स्थानीय प्रशासन इकाइयों के कार्यक्षेत्र को अधिक विस्तृत कर दिया अपितु इन्हें थोड़ा अधिक वित्तीय स्वायत्तता भी प्रदान किया। कई प्रांतो ने नगरीय परिषदों को अधिक शक्तियाँ प्रदान करने और उनकी स्वतंत्रता को बढ़ाने के लिये अपने नगरीय विधानों में संशोधन किये। मताधिकार के लिये योग्यता में भी कमी की गई और निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढ़ाई गई। कई देशी रियासतों (princely states) ने भी प्रान्तों का अनुसरण करते हुये अपने राज्यों में स्थानीय प्रशासन स्थापित किये परन्तु उनकी शक्तियाँ और उनमें लोकतांत्रिक तत्व की कमी थी।

किन्तु स्थानीय मामलों के प्रशासन में कार्यकुशलता की कमी आई। "द्वैत शासन (dyarchy) के काल में नगरीय प्रशासन जो चित्र प्रस्तुत करता है न तो वह दुःखदायक असफलता है, न पूर्ण सफलता। प्रत्येक प्रान्त में कुछ स्थानीय सरकारों ने अपने उत्तरायित्व को निःसंदेह सफलता से निभाया, कुछ स्पष्ट तौर पर असफल रहीं, परन्तु अधिकतर इन दोनों सीमाओं के मध्य तक कार्य कर पाईं"[45] जो कुछ यहाँ नगरों के प्रशासन के सम्बन्ध में कहा गया है वही ग्रामीण स्थानीय निकायों पर समान रूप से लागू होता है। उनका कार्य भी मोटे तौर पर संतोषजनक नहीं था। स्थानीय निकायों में निर्वाचित प्रतिनिधियों को सरकार की ओर से कोई मार्गदर्शन या समर्थन प्राप्त नहीं हुआ, और मंत्री राजनीतिक समर्थन प्राप्त करने के लिये स्थानीय निकायों का शोषण करते थे। "यह देखा गया कि जो पंचायती संस्थान 1920 के ऐक्ट (Act)

के अधीन स्थापित किये गये वे प्राचीन भारत के ग्रामों में चल रहे भव्य संस्थानों की परछाईं मात्र भी नहीं थे। वे पूर्णतया प्रतिनिधि संस्थान नहीं थे, उनकी शक्तियाँ भी सीमित थीं और उनका राजस्व संकीर्ण तथा अस्थिर था, और सरकार से लगातार तथा पर्याप्त अनुदान मिलने की कोई व्यवस्था नहीं थी।"[46] एक अन्य लेखक का कहना है, "............ कुछ एक को छोड़ कर, नगर परिषदों तथा पंचायतों के कार्य ग्रामों की पगडंडियों की देखरेख, कुछ एक तेल के लेम्पों की खरीद और कुछ सड़क–सफाई मज़दूरों की नियुक्ति तक ही सीमित थे। साथ ही साथ भ्रष्टाचार बड़ा, चाचा–भतीजावाद बहुत अधिक फैल गया और सरकारी या स्थानीय अधिकारी स्थानीय राजनीतिज्ञों के प्रभावाधीन हो गये।"[47]

इस काल में स्थानीय सरकारों का असंतोषजनक कार्य होने के अमुक कारण थे : राजनीतिक तथा धार्मिक आंदोलन; प्रजातीय, जाति तथा भाषा के झगड़े; प्रगतिवादी राजनीतिज्ञों का प्रभाव; प्रांतीय सरकारों तथा विधानमंडलों द्वारा मार्गदर्शन तथा समर्थन न करना; नौकरशाही द्वारा पूरे हृदय से समर्थन न देना, आदि।

चौथा चरण (Fourth Phase)

चौथा चरण 1937 से 1947 अर्थात् स्वतंत्रता वर्ष तक है। 1935 में ब्रिटिश संसद ने गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट (Government of India Act) पारित किया था, इसका प्रांतीय भाग 1937 में लागू किया गया। प्रांतों में द्वैत शासन (dyarchy) का स्थान स्वायत्त शासन (autonomy) ने ले लिया। स्थानीय प्रशासन जिसको प्रांतीय सूची में सम्मिलित किया गया था, निर्वाचित सरकारों के अधीन आ गये। लगभग सभी प्रांतो ने विधान पारित किये जिनका उद्देश्य स्थानीय प्रशासन निकायों का अधिक लोकतांत्रीकरण करना तथा इनके प्रशासनिक ढांचे को सुधारना था। लोकतांत्रीकरण करने के लिये जो कार्यवाही की गई वह इस प्रकार थी : मताधिकार की योग्यता को और कम करना, नामांकन व्यवस्था को समाप्त करना, और कार्यकारी तथा विचार–विमर्शात्मक कार्यों को भिन्न करना। केन्द्रीय प्रांत (Central provinces) में स्थानीय प्रशासन की जनपद योजना को लागू करना एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसमें जिला बोर्ड के कार्यक्षेत्र को समूचे ज़िला प्रशासन पर लागू करने की व्यवस्था थी।

परन्तु जिन प्रान्तों में काँग्रेस पार्टी की सरकारें थीं, उन्होंने अंग्रेज़ों की युद्ध नीति का विरोध करते हुये 1939 में त्यागपत्र दे दिये। अतः स्थानीय शासन के क्षेत्र में किसी भी प्रकार की प्रगति के लिये यह बहुत कम समय था। युद्ध आरम्भ हो जाने के उपरान्त सारे देश में स्थानीय शासन का ध्यान नागरिक सुरक्षा में लग गया। अतः यह कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता से पूर्व के भारत में स्थानीय प्रशासन नियंत्रण और निरीक्षण के विस्तृत ताने-बाने में बन्द हुआ था, और साम्राज्यवादी शासकों की आवश्यकताओं को पूरा करने में लगा हुआ था। वे शक्ति के सच्चे केन्द्र बनकर नहीं उभरे क्योंकि उनमें कई प्रकार की कमज़ोरियाँ थीं। इनके कारण इस प्रकार थे :

(1) स्थानीय प्रशासनिक निकायों के साथ कार्यव्यवहार में नौकरशाही की लालफीताशाही;

(2) उच्च वर्ग के दबाव, स्थानीय गुटबन्दी, निरक्षरता, विस्तृत निर्धनता आदि के कारण उपयोगी वातावरण का अभाव;

(3) अपर्याप्त स्थानीय वित्तीय साधन तथा सरकारी अनुदान;

(4) उपयुक्त तथा जवाबदेह प्रशासनिक कार्मिक का न होना;

(5) सरकारी विभागों द्वारा अपने क्षेत्रीय कर्मचारी स्थानीय प्रशासन को देने की इच्छा न होना;

(6) नागरिक सेवायें प्रदान करने के लिये स्थानीय प्रशासन तथा जिला प्रशासन में अपर्याप्त तालमेल; और

(7) बढ़ता हुआ साम्प्रदायिकतावाद तथा आंदोलन।

स्वतंत्रता-उपरान्त का समय (Post-Independence Period)

स्वतंत्रता के उपरान्त स्थानीय प्रशासन की प्रगति न तो निरन्तर रही है और न ही प्रशंसाजनक। यह ठीक है कि यदि स्वतंत्रता से पूर्व के समय से तुलना की जाये तो प्रगति शीघ्र, विस्तृत तथा सुदृढ़ है परन्तु यह समानरूप नहीं है। नगरीय प्रशासन को जो ध्यान दिया गया है वह ग्रामीण स्थानीय प्रशासन की अपेक्षा बहुत कम है।

1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त 26 जनवरी 1950 को हमारे लोकतांत्रिक संविधान को लागू किया जाना बढ़ी महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसमें कहा गया कि भारत एक प्रभुसत्ता सम्पन्न, लोकतांत्रिक गणतंत्र है। केन्द्र तथा राज्य स्तरों पर निर्वाचित संसद, विधानमण्डल और उत्तरदायी सरकारें स्थापित कर एक लोकतांत्रिक ढाँचे की रचना की गई। परन्तु इस लोकतांत्रिक प्रणाली को और आगे स्थानीय स्तर पर न ले जाया गया। यही कारण है कि संविधान में केवल दो स्थानों को छोड़ कर स्थानीय प्रशासन का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया। जिन दो स्थानों पर यह उल्लेख किया गया, वे हैं—

(1) राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्त का भाग, जिसकी धारा (Art.) 40 में कहा गया है कि 'राज्य ग्राम पंचायतों को गठित करने के लिये कार्यवाही करेगा और उनको इतनी शक्तियाँ तथा सत्ता प्रदान की जायेगी जिनसे वे स्वशासन की इकाइयों के तौर पर कार्य पर सकें।'[48]

(2) संविधान के सातवें अनुच्छेद (7th Schedule) में सूची 2 (List II) की पांचवी लेख (Entry 5) में लिखा है "स्थानीय सरकार, अर्थात् नगर निगमों की संरचना और शक्तियाँ, विकास न्यास (Improvement Trusts), ज़िला बोर्ड, खदान आवास प्रधिकारण (Mining Settlement Authorities), स्थानीय स्वशासन के लिये अन्य स्थानीय प्राधिकरण या ग्राम प्रशासन।"[49] इस लेख के परिणामस्वरूप स्थानीय सरकार का विषय, वह ग्रामक हो चाहे नगर का, राज्यों को दिया गया है, वही इस पर कानून बना सकते हैं।

यद्यपि स्थानीय प्रशासन का विषय राज्यों को सौंपा गया है, परन्तु केन्द्रीय सरकार ने स्थानीय सरकार के क्षेत्र में कई पग उठा कर समन्वय, पहल तथा मार्गदर्शन द्वारा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। 1948 में ही केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री राजकुमारी अमृत कौर (उस समय स्थानीय प्रशासन स्वास्थ्य मंत्रालय के पास था) ने प्रांतों के स्थानीय प्रशासन मंत्रियों का सम्मेलन बुलाया ताकि प्रशासन के इस महत्त्वपूर्ण विषय का प्रबन्ध करने वालों को राष्ट्रीय स्तर पर कभी–कभी एकत्रित होने का अवसर मिल सके और वे सामान्य रुचि की समस्याओं पर विचारों का आदान–प्रदान कर सकें।

मध्य प्रदेश की जनपद योजना (Janapada Scheme of the Central Provinces)

यहाँ मध्य प्रदेश की जनपद योजना का उल्लेख करना उचित होगा जिसकी रचना 1937 में की गई, तदुपरांत कुछ परिवर्तन किये गये और अन्ततः 1948 में इसको लागू कर दिया गया। यह एक बहुत साहसी योजना थी और आज तक जो भी इस क्षेत्र में प्रयास किये गये थे, उनसे भिन्न थी। "एक ही प्रहार में इसने दोहरी प्रशासनिक व्यवस्था को समाप्त करने का प्रयास किया—एक ज़िला प्रशासन और दूसरा स्थानीय प्रशासन। जिसकी दो स्वतंत्र धारायें नगरीय प्रशासन तथा ग्रामीण स्थानीय प्रशासन—ऐसा ज़िला बोर्ड की गतिविधि के क्षेत्र को समूचे ज़िला प्रशासन पर लागू करके किया गया, और ज़िला कलेक्टर (Collector) को ज़िला बोर्ड का मुख्य कार्यकारी अधिकारी तथा ज़िला कर्मचारियों को बोर्ड के कर्मचारी बना दिया गया।"[50] ज़िला स्तर के सभी विषयों को ज़िला बोर्ड के समक्ष प्रस्तुत करना और उन पर विचार विमर्श करना

अनिवार्य बनाया गया। परन्तु बोर्ड का निर्णय केवल एक प्रकार के विषयों पर ही अंतिम हो सकता था। अन्य प्रकार के विषयों पर अंतिम निर्णय या तो राज्य सरकार के हाथ में था या ज़िला अधिकारी के हाथ में और या ज़िला अधिकारी और बोर्ड संयुक्त रुप से दोनों के हाथ में। इसमें प्रशासन का केन्द्र बिन्दु ज़िला से हटा कर इसके भाग तहसील (tehsil) जिसको जनपद का नाम दिया गया, को बनाया गया। ग्रामों के समूह को जनपद कहा गया। इस स्तर पर प्रतिनिधि सभा को जनपद सभा का नाम दिया गया। इसे अपने क्षेत्राधिकार में नगर तथा ग्रामीण दोनों स्थानीय प्रशासनों पर नियंत्रण दिया गया। इस प्रकार एकीकृत प्रशासनिक व्यवस्था की रचना की गई। जनपद स्तर पर कार्य करने वाले राज्य सरकार के सभी विभागों के अधिकारियों को जनपद सभा के मुख्य कार्यकारी अधिकारी के अधीन कर दिया गया।

आयोग तथा समितियाँ (Commissions and Committees)

1952 में देश में जब विकास की नियोजित प्रक्रिया शुरू हुई तो इस प्रक्रिया में लोगों को जोड़ने की आवश्यकता अनुभव की गई। विकास प्रक्रिया में लोगों की भागीदारी प्राप्त करने की जो महत्त्वपूर्ण भूमिका स्थानीय प्रशासन निभा सकते हैं, उन पर कई पंचवर्षीय योजनाओं में बल दिया गया। सामुदायिक विकास कार्यक्रमों और राष्ट्रीय विस्तरण सेवा (Community Development Programme and National Extension Service) को लागू करने, जनता की भागीदारी की कल्पना की गई थी। अतः 1956 में योजना आयोग ने एक टीम (team) की नियुक्ति की जो सामुदायिक विकास कार्यक्रमों तथा राष्ट्रीय विस्तरण सेवा का अध्ययन कर सके (बलवंत राय मेहता समिति)। इसके उपरान्त केन्द्रीय सरकार ने समय–समय पर कई आयोगों और समितियों की नियुक्ति कि जिनके अध्ययन का विषय ग्रामीण तथा नगरीय स्थानीय प्रशासन था। इनके नाम इस प्रकार हैं : 1978 में पंचायती राज संस्थानों पर अशोक मेहता समिति; 1985 में ग्रामीण विकास तथा निर्धनता को कम करने सम्बन्धी कार्यक्रमों पर वर्तमान प्रशासनिक प्रबन्धों का पुनर्निरीक्षण करने के लिए जी० वी० के० राव समिति; स्थानीय वित्तीय जाँच समिति 1949—51; कर जाँच आयोग 1953—54; नगरीय प्रशासन कार्मिक प्रशिक्षण समिति 1963; ग्राम–नगर सम्बन्ध समिति 1963—66; नगरीय स्थानीय निकायों के वित्तीय संसाधन प्रसारण मंत्रीय समिति 1963; नगरीय प्रशासन कार्मिक सेवा शर्तों पर समिति 1965—68; नगरीय प्रशासन में बजट सुधार समिति 1974; नगरीय स्थानीय निकाय तथा नगर निगमों के संविधान शक्तियों तथा विधि–व्यवस्था पर अध्ययन समूह 1982। 1967 में प्रशासनिक सुधार आयोग ने भी अपनी रिर्पोट में स्थानीय प्रशासन पर एक अध्याय लिखा था। इसी प्रकार योजना आयोग ने भी नगरीय प्रशासन में सुधार के विषय पर कई एक कार्य समूह नियुक्त किये।

उधर राज्यों सरकारों ने अपने आप स्थानीय प्रशासन में सुधार करने के लिये कई एक समितियाँ तथा आयोग नियुक्त किये। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं : नगर परिषदों के वित्तीय संसाधनों पर समिति, 1969 (असम) (The Committee on Finances of Municipal Committees, 1969 Assam); 1948 की दिल्ली नगरीय संगठन जाँच समिति (Delhi Municipal Organisation Enquiry Committee, 1948); दिल्ली नगर निगम तथा नई दिल्ली नगर समिति वित्तीय आयोग, 1968 (Commission on Finances of Municipal Corporation of Delhi and New Delhi Municipal Committee, 1968); नगरीय–प्रशासन सुधारीकरण समिति, 1961-गुजरात (The Municipal Rationalization Committee, 1961-Gujarat); नगर प्रशासनों के लिये अनुदान संहिता समिति, 1964-गुजरात (Grants-in-aid-Code Committee for Municipalities, 1964-Gujarat); संसाधन समिति (स्थानीय प्रशासन), 1988 तथा नगरीय प्रशासन अनुदान आयोग, 1969-हरियाणा (Resource Committee (Local Bodies), 1988 and Municipal Grants Commission, 1969-

Harayana); नगरीय प्रशासन अनुदान जाँच समिति, 1965-केरल (Municipal Grants Enquiry Committee, 1965-Kerala); नगरीय स्थानीय प्रशासन समिति, 1959 तथा नगर निगमों और नगरीय प्रशासनों के कर्मचारियों की सेवा शर्तों तथा वेतन पर जाँच समिति, 1965-मध्य प्रदेश (Urban Local Self-government Committee, 1959, and the Committee of Enquiry on the Emoluments and Conditions of Services of the Corporation and Municipal Employees, 1965 (Madhya Pradesh)। अन्य राज्यों जैसे महाराष्ट्र, पंजाब, तमिलनाडु, उड़ीसा आदि ने भी कई कानून पास किये तथा आयोग और समितियाँ नियुक्त की। ऊपर दी गई सूची केवल उदाहरण मात्र है।

इसके अतिरिक्त भी स्थानीय प्रशासनों के विकास तथा सुधार के लिये कई मंच उपलब्ध हैं। 1954 में स्थापित स्थानीय स्वशासन की केन्द्रीय परिषद् (Central Council of Local Self-Government)। इस समय यह एक सलाहकार समिति है जिसका सम्बन्ध नगरीय स्थानीय प्रशासन की नीति, समन्वय तथा केन्द्रीय सरकार को विधि–निर्माण की आवश्यकता पर सुझाव देना है। समय–समय पर केन्द्रीय सरकार नगर पार्षदों, नगरीय परिषदों के सदस्यों तथा उन राज्य मंत्रियों जो स्थानीय प्रशासन और नगर तथा ग्राम नियोजन से सम्बन्धित हैं, के सम्मेलन बुलाती है ताकि नगरीय समस्याओं, क्षेत्रीय तथा नगरीय नियोजन आदि के विषयों पर विचार–विमर्श किया जा सके।

बलवंत राय मेहता समिति रिपोर्ट

(Balwant Rai Mehta Committee Report)

इस अध्याय में यह सम्भव नहीं कि ऊपर लिखी गई सभी समितियों या आयोगों की रिपोर्टों का विस्तार से उल्लेख किया जा सके, न ही ऐसा यहाँ उचित होगा। अतः इनमें कुछ एक जो अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, का संक्षेप में उल्लेख किया जायेगा। इनमें से प्रथम है बलवंत राय मेहता समिति रिपोर्ट। यह पहले कहा जा चुका है कि सामूहिक विकास कार्यक्रम का प्रारम्भ 1952 में किया गया। इससे समझा यह गया था कि स्वयं–सेवा या सहायता द्वारा, ग्रामीण लोगों में उत्साह उत्पन्न होगा जो विकास विमोचन सिद्ध होगा। परन्तु सामुदायिक विकास कार्यक्रम में दो त्रुटियाँ थीं :

(1) इसको चलाने वाले सरकारी अधिकारी थे जिन्होंने ईमानदारी से कठिन परिश्रम तो किया परन्तु वे इस कार्यक्रम के आधारभूत इसकी अनिवार्य भावना को नहीं अपना पाये। इस प्रकार सरकारी मशीनरी पर अधिक निर्भरता के कारण जनता की भागीदारी उत्पन्न करने के प्रयासों में रुकावट आई।"[51]

(2) स्थानीय प्रशासन के दोनों ग्रामीण तथा नगरीय संस्थानों को सामुदायिक विकास कार्यक्रम से पूर्णतया बाहर रखा गया था।

इस आलोचना का परिणाम यह हुआ की 1956 में योजना आयोग ने एक अध्ययन टीम (study team) को नियुक्त किया जिसके अध्यक्ष श्री बलवंत राय मेहता थे। उनको कहा गया कि वह सामुदायिक विकास कार्यक्रमों तथा राष्ट्रीय विस्तरण सेवा (National Extension Service) का अध्ययन कर अपनी रिपोर्ट दें। इस अध्ययन टीम ने अपनी रिपोर्ट 1957 में दी जिसको बलवंत राय मेहता समिति रिपोर्ट कहते हैं।

इस रिपोर्ट में यह स्वीकार किया गया कि सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तरण सेवा कार्यक्रम जनता में उत्साह उत्पन्न करने में विफल रहे हैं और पंचायत स्तर से ऊपर स्थानीय प्रशासन की इकाइयों में भी वे प्रोत्साहन उत्पन्न नहीं कर पाये। यहाँ तक कि पंचायतें भी